(८) निज मनोमणि ·· सिद्धमहं परिपूजये (सिद्धपूजा भावाष्टक १ला श्लोक) अपने मन रूपी मणिके पात्रमें भरे हुए समता रस रूपी अनुपम अमृत रसकी धारासे केवलज्ञान रूपी कलासे मनोहर सहज सिद्ध परमात्माकी मैं पूजा करता हूँ।

(९) जिनस्नानं····सन्मार्गप्रभावना (षोडशकारण पूजा श्लोक १७वां) जिनदेवका अभिषेक, श्रुतका व्याख्यान, गीत-वाद्य तथा नृत्य आदि पूजा जहाँ की जाती है वह सन्मार्ग प्रभावना है।

(१०) सच्चेण जि सोहइ·· तियस सेवा वहंति (दशलक्षण पूजा गाथा ४ सत्यधर्म) सत्यसे मनुष्य जन्म शोभा पाता है, सत्यसे ही पुण्य कर्म प्रवृत्त होता है, सत्यसे सब गुणोंका समुदाय महानताको प्राप्त होता है और सत्यके कारण ही देव सेवा-व्रत स्वीकार करते हैं।

अनूदित अंशोंको दृष्टिपथमें रखते हुए कहा जा सकता है कि अनुवाद बहुत अच्छा हुआ। अनावश्यक विस्तार-संक्षेप दोनों ही नहीं हैं। अनुवादकी भाषापर संस्कृतनिष्ठ शैलीका प्रभाव सुस्पष्ट लक्षित होता है। वास्तवमें विद्वान् सम्पादकने ज्ञानपीठ पूजाञ्जलिके प्रणयनमें पर्याप्त परिश्रम किया है। पूजाञ्जलि जैसा प्रयत्न अपनी दिशाका सुदृढ़ सशक्त चरण है और उसकी सफलताका बहुत कुछ श्रेय पंडित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीको है। उन्होंने स्वतन्त्र होकर जिन ग्रन्थोंके भाष्य लिखे, उनमें आपकी उच्चकोटिकी विद्वत्ता पग-पग पर लक्षित होती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि "ज्ञानपीठ-पूजांजलि"के प्रास्ताविक वक्तव्यमें प्रकाशित पण्डितजीके विचार आज भी प्रेरणादायक, वतमान परिस्थितिमें जैन समाजको जागृत करने वाले, स्फूर्ति प्रदान करने वाले हैं। पण्डितजीने निष्कर्ष रूपमें यह तथ्य उजागर किया है कि वर्तमान पूजा-विधिमें कृति-कर्मका जो आवश्यक अंश छूट गया है, यथास्थान उसे अवश्य ही सम्मिलित कर लेना चाहिए और प्रतिष्ठा-पाठके आधारसे इसमें जिस तत्त्वने प्रवेश कर लिया है, उसका संशोधन कर देना चाहिए। क्योंकि पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-विधिमें और देव-पूजामें प्रयोजन आदिकी दृष्टिसे बहुत अन्तर है। प्रतिष्ठा-विधिमें प्रतिमाको प्रतिष्ठित करनेका प्रयोजन है और देव-पूजामें प्रतिमाको साक्षात् जिन मान कर उसकी उपासना करनेका प्रयोजन है। अतः समाजको इसी दृष्टिसे पूजा-पाठ करना चाहिए।

इस प्रकार पूजाञ्जलि कई दृष्टियोंसे उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है। भविष्यमें भी जैन विद्वान् इस प्रकारके संकलन तैयार कर जैन पूजाविधिपर अधिक-से-अधिक शोधपूर्ण विचार प्रकाशित कर सकेंगे।

●

वर्ण-जाति और धर्म : एक चिन्तन

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

'वर्ण, जाति और धर्म' श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री प्रणीत एक ऐसी विचारोत्तेजक, पठनीय एवं मननीय कृति है, जिसमें आधुनिक युगकी एक ज्वलन्त समस्याका आगम और युक्तिके आलोकमें विशद विवेचन तथा समाधान प्रस्तुत करनेका उत्तम प्रयास किया गया है। पुस्तक प्रणयनमें मुख्य प्रेरक स्व० साहू शान्तिप्रसाद जैन थे, जो अपने प्रगतिशील विचारों, सुलझी हुई समीचीन दृष्टि, उदाराशय, दानशीलता और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाजके सर्वतोन्मुखी उन्नयनकी उत्कट लगनके कारण न केवल प्रबुद्ध वर्गके, वरन् अपने समयमें अखिल जैन समाजके सर्वाधिक जनप्रिय नेता रहे। पुस्तकका प्रकाशन भी साहूजी द्वारा संस्थापित भारतीय ज्ञानपीठसे उसकी मूर्त्तिदेवी ग्रन्थमालाके ग्रन्थांक ८ के रूपमें प्रथम बार सन् १९६३ ई० में हुआ था। प्रचारकी दृष्टिसे इस साधिक ४५० पृष्ठोंकी सुमुद्रित सजिल्द पुस्तकका मूल्य मात्र तीन रुपये रखा गया था। पुस्तककी भाषा और शैली विषयवस्तुके अनुरूप प्रौढ़, सरल-सुबोध, तार्किक एवं समीक्षात्मक है। प्रबुद्धचेता वर्गमें पुस्तकका स्वागत भी अच्छा हुआ।

प्रारंभिक 'दो शब्दों'में विद्वान् लेखकने पुस्तक-प्रणयनके हेतुका संकेत करते हुए बताया है कि भारतवर्षमें सद्यः प्रचलित जातिप्रथा, जो देश और समाजके लिए हानिकारक सिद्ध हुई हैं और हो रही है, मूलतः ब्राह्मणधर्मसे सम्बद्ध हैं, उस धर्मका वह वस्तुतः मूलाधार ही है जबकि जैनधर्मका जातिधर्मके साथ थोड़ा भी सम्बन्ध नहीं है। मूल जैन साहित्य इसका साक्षी है। किन्तु मध्यकालमें जातिधर्मका व्यापक प्रचार होनेके कारण परवर्ती जैन साहित्यमें उसकी छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। तथापि जिन आचार्योंने जाति, कुल, गोत्र आदिकी प्रथाको परिस्थितिवश धर्मका अंग बनानेका उपक्रम किया, उन्होंने भी उसे वीतराग भगवान्की वाणी या आगम कभी नहीं कहा—या तो उसका निषेध किया अथवा उसे गृहस्थके लौकिक धर्मका अंग प्रतिपादित किया, जिसमें ब्राह्मणीय वेदों, मनुस्मृति आदिको प्रमाण बताया, जैन आगमको नहीं। इस विषयपर जैन शास्त्रीय दृष्टिसे अभी तक कोई सांगोपांग मीमांसा नहीं हो पाई थी। स्व० साहूजी जैसे अनेक प्रबुद्ध सज्जनोंको यह कमी खटकती थी। अतः पं० फूलचन्द्रजीसे आग्रह किया गया और उन्होंने विचार एवं श्रमपूर्वक इस पुस्तकका प्रणयन किया।

पुस्तकके दो भाग हैं—प्रथम भागमें १५ उपयुक्त शीर्षकोंके अन्तर्गत विवक्षित प्रकरणोंपर तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक दृष्टिसे विस्तृत ऊहापोह किया गया है; यथा—(१) धर्म महत्ता, व्याख्या, अवान्तर भेद एवं उनका स्वरूप, (२) व्यक्तिधर्म-आत्मधर्म या जिनधर्म, (३) समाज धर्म या लौकिक धर्म, (४) नोआगम भाव मनुष्योंमें धर्माधर्म-मीमांसा, (५) गोत्रमीमांसा, (६) कुल मीमांसा, (७) जातिमीमांसा, (८) वर्णमीमांसा, (९) ब्राह्मणवर्ण-मीमांसा, (१०) यज्ञोपवीत-मीमांसा (११) जिनदीक्षाधिकार-मीमांसा, (१२) आहारग्रहण-मीमांसा, (१३) समवसरणप्रवेश-मीमांसा, (१४) जिनमन्दिरप्रवेश-मीमांसा, और (१५) आवश्यक षट्कर्म-मीमांसा। तदनन्तर प्रकृतमें उपयोगी (१७) पौराणिक आख्यानोंका संक्षेपसार अपने मन्तव्योंके समर्थनमें दृष्टान्त रूपसे प्रस्तुत कर दिया गया है। दूसरे भागमें अपनी उपरोक्त मीमांसाओंके आधारभूत शास्त्रीय प्रमाणोंके भाषानुवाद सहित मूलपाठ भी दे दिये गये हैं, जिससे प्रबुद्ध पाठक स्वयं भी देख सकें कि उक्त मुद्दोंके पीछे शास्त्राधार क्या और कितना है। साथ ही, "क्षेत्रकी दृष्टिसे मनुष्योंमें धर्माधर्म मीमांसा और मीमांसापर भी शास्त्राधार निर्देशित कर दिये गये हैं।"

इस प्रकार पुस्तकमें जाति-समस्यासे सम्बद्ध प्रायः सभी विषयोंका विशद विवेचन किया गया है। उक्त विवेचनोंसे जो निष्कर्ष प्राप्त किये हैं अथवा प्रतिपत्तियाँ प्रतिफलित की हैं, वे अधिकतर निर्विवाद एवं ग्राह्य हैं, और जो कोई विवादस्थ भी हैं, वे भी पाठकको पुनः चिन्तन करनेके लिए विवश करती हैं। इस विषयमें सन्देहके लिए अवकाश नहीं है कि भारतीय परम्परामें जैनधर्म अपनी उदारता एवं व्यापक दृष्टिके कारण महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। 'धर्म' शब्दकी एक व्याख्याके अनुसार 'वह ऐसा कर्त्तव्य है जो मानवमात्रके ही नहीं, प्राणीमात्रके ऐहिलौकिक और पारलौकिक जीवनको नियन्त्रित करके सबको सुपथपर ले चलनेमें सहायक होता है।' वस्तुतः जिनधर्म, आत्मधर्म या व्यक्तिवादी धर्म है, जो बिना किसी भी भेदभावके समस्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणियोंकी ऐहिक एवं पारलौकिक उन्नति तथा सुखसुविधाका विचार करता है, जबकि सामाजिक या लौकिक धर्म केवल मनुष्योंके ही ऐहिक हितसाधन तक सीमित होता है और बहुधा अनगिनत विविध अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियोंपर अवलम्बित रहता है।

यही कारण है कि जिनधर्म रूपी आत्मधर्ममें जाति और कुलको स्थान नहीं है। प्रत्येक मनुष्य उसकी साधन द्वारा आत्मोन्नयन करनेका अधिकारी है। वर्ण, जाति, कुल, गोत्र आदिका अथवा अन्य भी कोई भेदभाव उसमें बाधक नहीं हैं। लौकिक-धर्म या समाज-धर्म इन आत्मधर्मसे भिन्न है। वह मूलतः ब्राह्मण-वैदिक परम्पराकी देन है, जिसने शनैः शनैः वर्णाश्रम धर्मका रूप ले लिया। उस परम्परामें ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णभेद मूलतः गुणकर्मानुसारी ही थे, किन्तु समयके साथ उनके जन्मतः होनेकी मान्यता रूढ़ हो गई। जैन गृहस्थोंके सामाजिक या लौकिक धर्मपर कालान्तरमें उक्त ब्राह्मणीय वर्णव्यवस्थाका प्रभाव पड़ा, और उन्होंने भी धीरे-धीरे उसे अपना लिया। किन्तु मूल जिनधर्मके स्वरूप एवं प्रकृतिसे उसकी कोई संगति नहीं है। इस प्रसंगमें आचार्य जिनसेनस्वामी प्रणीत 'आदिपुराण'को उक्त ब्राह्मण वैदिक प्रभाव-ग्रहणका मुख्यतया उत्तरदायी बताते हुए विद्वान् लेखकने उक्त पुराणकी पर्यालोचना की है।

षट्खण्डागम सिद्धान्त, कषायप्राभृत आदि दिगम्बर आगमोंके तथा मूलाचार, भगवती आराधना, रत्नकरण्डश्रावकाचार, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक जैसे प्रामाणिक प्राचीन शास्त्रोंके आधारसे उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि मनुष्योंके ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रादि भेद उक्त साहित्यमें उपलब्ध नहीं होते, यह कि द्रव्यस्त्रियों एवं द्रव्य-नपुंसकोंको छोड़कर आगमप्रतिपादित पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न जितने भी तथाकथित आर्य और म्लेच्छ मनुष्य हैं, उनमें सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयम रूप पूर्ण धर्मकी प्राप्ति संभव है, और यह कि वर्णके आधारपर धर्माधर्मका विचार करनेकी पद्धति बहुत ही अर्वाचीन है। (पृ० १००)।

गोत्र मीमांसाके संदर्भमें निकाले गये निष्कर्षोंके अनुसार गोत्रकर्म जीवविपाकी हैं, पुद्गल विपाकी नहीं हैं। गोत्रकर्मके उदयसे हुई जीवकी उच्च और नीच पर्यायोंका सम्बन्ध शरीरके आश्रयसे कल्पित किये गये कुल, वंश या जातिके साथ नहीं हैं। लोकमें जो उच्च कुल वाले माने जाते हैं उनमें भी बहुतसे मनुष्य भावसे नीचगोत्री हो सकते हैं, और नीचकुली माने जाने वालोंमें बहुतसे भावसे उच्चगोत्री हो सकते हैं। इक्ष्वाकुकुल आदि लौकिक मान्यताएँ काल्पनिक हैं; परमार्थ सत् नहीं हैं। एक ही भवमें गोत्र परिवर्तन भी हो सकता है, यथा जो मनुष्य सकल संयमको धारण करते हैं उनके नियमसे नीचगोत्र बदल कर उच्चगोत्र हो जाता है। इसी प्रकार जो तिर्यंच संयमासंयम स्वीकार करता है, उसका भी नीचगोत्र बदल कर उच्च गोत्र हो जाता है। गोत्रका सम्बन्ध वर्णव्यवस्थाके साथ न होकर, प्राणीके जीवनके साथ होता है, और उसकी व्याप्ति चारों गतियोंके जीवोंमें देखी जाती है। आगममें उच्चगोत्रको भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय, दोनों प्रकारका बताया है। सारांश यह है कि जिनके जीवनमें स्वावलम्बनकी ज्योति जगती रहती हैं, वे उच्चगोत्री होते हैं। और इनके विपरीत शेष मनुष्य या प्राणी नीचगोत्री होते हैं। लेखकका कहना है कि मध्यकालके पूर्व जैन वाङ्मयमें यह विचार ही नहीं आया था कि ब्राह्मणादि तीन वर्णोंके मनुष्य ही दीक्षायोग्य हैं; अन्य नहीं हैं। विद्वान् लेखकने 'गोत्र-मीमांसा'का उपसंहार करते हुए एक बड़े ही मार्केकी बात कही है कि 'जो व्यक्ति आत्माकी स्वतन्त्रता स्वीकार करके स्वावलम्बनके मार्गपर चल रहा है, प्रकटमें भले ही वह जैन सम्प्रदायमें दीक्षित न हुआ हो, तो भी प्रसंग आनेपर उसे जैन माननेसे अस्वीकार मत करिये। धर्म सनातन सत्य है। जैनधर्ममें; चाहे उच्चगोत्री हो या नीचगोत्री; आर्य हो या म्लेच्छ, अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शूद्र, कोई भी हो, सब मनुष्योंके लिए धर्मका द्वार समान रूपसे खुला हुआ है। उच्चगोत्री तो रत्नत्रयके पात्र हैं ही, जो नीचगोत्री हैं वह भी रत्नत्रयका पात्र हैं। धर्मकी महिमा बहुत बड़ी है। कुल शुद्धि जैसे कल्पित आवरणोंके द्वारा उसके प्रवाहको रोकना असम्भव है (पृ० १३५ व १३८)

''जाति-मीमांसा'' में विद्वान् लेखकने प्रचलित जातिवादके अहितकर परिणामों तथा उसकी निस्सारता पर प्रकाश डाला है, और पाठकोंका ध्यान इस तथ्यकी ओर आकृष्ट किया है कि कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूज्य-पाद, प्रभृति प्राचीन प्रामाणिक आचार्यपुंगवों तथा उनके परवर्ती जटासिंहनंदि, रविषेण, अकलंक, जिनसेन पुन्नाटसंघी, गुणभद्र, अमितगति, प्रभाचन्द्र, शुभचन्द्र आदि अनेक आचार्यप्रवरोंने जातिवादका निषेध ही किया है और गुणपक्षकी ही स्थापना की है। वस्तुतः प्राचीन आचार्योंने प्रायः सर्वत्र लौकिक जातिमद एवं कुलमदको नीचगोत्रके आस्रव-बन्धका मुख्य कारण घोषित किया है।

वर्णमीमांसामें वर्णव्यवस्था सम्बन्धी ब्राह्मणधर्म तथा जैनधर्मकी दृष्टियोंकी तुलनात्मक समीक्षा करते हुए विद्वान लेखकने षट्कर्म व्यवस्था, शूद्र वर्ण और उनका कर्म, वर्ण और विवाह, स्पृश्यास्पर्श विचार आदि प्रसंगोपात्त प्रश्नोंका जैन दृष्टिसे समाधान किया है। उसी प्रकार, ब्राह्मण वर्णकी उत्पत्ति और उसके कर्मका उभय परम्पराओंकी दृष्टिसे विवेचन किया है और यह भी सिद्ध करनेका प्रयास किया है कि यज्ञोपवीत भी ब्राह्मण परम्पराकी ही देन है। जैन परम्परामें वह कभी स्वीकृत नहीं रहा। इस प्रसंगमें पुस्तकके पृ० २२८ पर किसी भूलसे पं० बनारसीदासके स्थानमें पण्डित आशाधरका नाम छप गया है—उद्धृत घटना एवं पंक्तियाँ पं० बनारसीदासके 'अर्धकथानक' की हैं।

''जिनदीक्षाधिकारमीमांसा' में आगम साहित्य, कुन्दकुन्दाचार्यकी कृतियों, मूलाचार, वरांगचरित, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण आदि ग्रन्थोंके आधारसे निष्कर्ष निकाला गया है कि शूद्रवर्णके मनुष्य भी मुनि दीक्षा लेकर मोक्षके अधिकारी हैं, और यह कि इस विषयमें जैन परंपराके जितने भी सम्प्रदाय हैं, उनमें मतभेद नहीं रहा है (पृ० २४०)। आहारग्रहणमीमांसामें दान देनेका अधिकारी कौन है, देय द्रव्यकी शुद्धि, आहारके ३२ अन्तराय आदिका विवेचन है। समवसरणप्रवेशमीमांसा तथा जिनमन्दिर-प्रवेश मीमांसाके प्रसंगमें यह सिद्ध करनेका प्रयास किया गया है कि शूद्र जिनमन्दिरमें जायँ, इसका कहीं निषेध नहीं है (पृ० २५२ व २५८ आदि)। आवश्यक-षट्कर्म-मीमांसामें भी महापुराणकारके मतकी पर्यालोचना की गई है, और कहा गया है कि 'जैनधर्म' में वर्णाश्रम धर्मकी प्रथा महापुराणके कर्ता आचार्य जिनसेनने चलाई है। इसके पहले जैनधर्ममें श्रावकधर्म और मुनिधर्म प्रचलित था, वर्णाश्रम धर्म नहीं। तीन वर्णके मनुष्य दीक्षाके योग्य हैं तथा वे ही इज्या आदि षट्कर्म-के अधिकारी हैं, ये दोनों विशेषताएँ वर्णाश्रम धर्ममें ही पाई जाती हैं, श्रावकधर्म और मुनिधर्मका प्रतिपादन करनेवाले जैनधर्ममें नहीं। इसके अनुसार तो मनुष्यमात्र (लब्धपर्याप्त और भोगभूमिजा मनुष्य नहीं) श्रावक-दीक्षा और मुनिदीक्षाके अधिकारी हैं। तथा वे इन धर्मोंका पालन करते हुए सामायिक आदि षट्कर्मोंके भी अधिकारी हैं (पृ० २८७)।

विद्वान् लेखकने अपने विषय-विवेचनमें सर्वमान्य प्रामाणिक शास्त्रीय आधारों, पौराणिक दृष्टान्तों तर्क और युक्तियोंका यथोचित अवलम्बन लिया है। उनके किन्हीं मन्तव्यों, निष्कर्षों, तर्कों और शास्त्रीय व्याख्याओं से सम्भव है कि कहीं-कहीं किन्हीं पाठकोंको कोई मतभेद भी हो, तथापि समग्र विवेचनके उनके इस अन्तिम निष्कर्षसे कि—'आगमका सम्बन्ध केवल मोक्षमार्गसे है, सामाजिक व्यवस्थाके साथ नहीं। सामाजिक व्यव-स्थाएँ बदलती रहती हैं, परन्तु मोक्षमार्गकी व्यवस्था त्रिकालाबाधित है। उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता—किसी भी प्रबुद्ध एवं विवेकशील व्यक्तिको कोई आपत्ति हो सकती है, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वास्तवमें प्रचलित जातिप्रथा कभी और कहीं कैसी भी रही हो और किन्हीं परिस्थितियोंमें उपादेय या शायद आवश्यक भी रही हो, किन्तु काल-दोष एवं निहित स्वार्थोंके कारण उसमें जो कुरूढ़ियाँ, कुरीतियाँ, विकृतियाँ एवं अन्धविश्वास घर कर गये हैं, और परिणामस्वरूप देशमें, राष्ट्रमें, समाजमें, एक ही धर्मसम्प्रदाय के अनुयायियोंमें जो टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं, पारस्परिक फूट, वैमनस्य एवं भेदभाव खुलकर सामने आ रहे हैं, वैयक्तिक या समूह, सम्प्रदाय या समाज, देश या राष्ट्र किसीके लिए भी हितकर नहीं, अहितकर ही हैं, तथा प्रगतिके सबसे बड़े अवरोधक हैं। धर्मकी आड़ लेकर या कतिपय धर्मशास्त्रोंकी साक्षी देकर जो उनका पोषण किया जाता है, और उनका विरोध करनेवालोंका मुँह बन्द करनेका प्रयत्न किया जाता है, उससे यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति और समाज, दोनोंके ही हितमें धर्मके मर्मको धर्मकी मूलाम्नायके प्रामाणिक शास्त्रोंसे जाना और समझा जाय।

मनुष्य स्वयंको सदैवसे श्रेष्ठतम प्राणी कहता आया है। उसका यह दावा अनुचित भी नहीं है। मानवकी अदम्य जिज्ञासा एवं अप्रतिम बुद्धि वैभवने प्राकृतिक-भौतिक जगत्में ही नहीं, आध्यात्मिक जगत्में भी अनगिनत आविष्कार किये हैं। धर्म तत्त्व भी उसीकी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं। धर्म सभी देशों और कालोंमें जन-जनके मानसको सर्वाधिक प्रभावित करनेवाला यही तत्त्व रहा है। साथ ही, प्रायः सभी धर्मप्रवर्तकोंने, उन्होंने भी जिन्होंने मनुष्येतर अन्य प्राणियोंकी उपेक्षा की, मनुष्योंको ऊँच-नीच आदिके पारस्परिक भेदभावोंसे ऊपर उठनेका ही उपदेश दिया। अतएव यहूदी, ईसाई, मुसलमान, यहाँ तक कि बौद्ध एवं सिक्ख आदि कई भारतीय धर्म भी, मनुष्यमात्रकी समानताका-इगेलिटेरियनिगज्मका दावा करते हैं, और जातिवादको स्वीकार करते केवल ब्राह्मण वैदिक परम्परासे उद्भूत तथाकथित हिन्दूधर्म ही इसका अपवाद है। तथापि विडंबना यह है कि उन मूलतः समानतावादी एवं जातिवाद विरोधी सम्प्रदायोंमें भी ऊँच-नीचका वर्गभेदपरक जातिवाद किसी न किसी प्रकार या रूपमें घर कर ही गया। अन्तर इतना ही है कि उनमें उसकी जकड़ और पकड़ इतनी सख्त नहीं है जितनी कि हिन्दू धर्ममें हैं। आजका प्रगतिशील प्रबुद्ध विश्वमानस ऐसे भेदभावोंको मानवके कल्याण एवं उन्नयनमें बाधक समझता है और उनका विरोध करता है। ऐसी स्थितिमें यह अन्वेषण एवं गवेषणा करना कि निर्ग्रन्थ श्रमण तीर्थंकरों द्वारा पुरस्कृत जैनधर्मका इस विषयमें क्या दृष्टिकोण है, अत्यावश्यक हो जाता है। साथ ही यह देखना भी आवश्यक है कि क्या सामाजिक संगठनके हितमें भी उक्त भेदादिकी कोई उपयोगिता है, और हैं तो किस रूपमें तथा किस सीमा तक।

इस प्रसंगमें भ्रान्तिके दो मुख्य कारण प्रतीत होते हैं—एक तो यह कि वर्ण-जाति-कुल-गोत्रमेंसे प्रत्येक शब्दके कई-कई अर्थ हैं—जिनागममें कर्म-सिद्धान्तानुसार उनमेंसे प्रत्येकका जो अर्थ है वह लोक व्यवहारमें प्रचलित अर्थसे भिन्न एवं विलक्षण हैं। दोनोंको अभिन्न मान लेनेसे भ्रान्त धारणाएँ बन जाती हैं। दूसरे, जो लौकिक, सामाजिक या व्यवहार धर्म हैं, वह परिस्थितिजन्य हैं, देशकालानुसार परिवर्तनीय या संशोधनीय हैं, इस स्थूल तथ्यको भूलकर उसे जिनधर्म-आत्मधर्म-निश्चयधर्म या मोक्षमार्गसे, जो कि शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय हैं, अभिन्न समझ लिया जाता है। पक्षव्यामोह एवं कदाग्रहसे मुक्त होकर भ्रान्तिके जनक इन दोनों कारणोंको-जिनधर्मकी प्रकृति, उसके सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान एवं मौलिक परम्पराके प्रतिपादक प्राचीन प्रामाणिक साहित्यके आलोकमें भलीभाँति समझकर प्रकृत विषयके सम्बन्धमें निर्णय करने चाहिए। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि लौकिक, सामाजिक या व्यवहार धर्मको सर्वथा नकार दिया जाय—न वैसा सम्भव है और न हितकर ही। परन्तु उसमें युगानुसारी तथा क्षेत्रानुसारी आवश्यक परिवर्तन, संशोधनादि करनेमें भी संकोच नहीं करना चाहिए। व्यावहारिक, सामाजिक या लौकिक धर्मकी व्यवस्थाएँ, संस्थाएँ या प्रथाएँ रहेंगी ही, उनका रहना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपेक्षित भी है, किन्तु वे ऐसी हैं जो सम्यक्त्वको दूषित करने वाली न हों, उसकी पोषक हों——मोक्षमार्गमें बाधक न हों, उसकी साधक हों।

१८५७ ई० के स्वातन्त्र्य समरके उपरान्त जब इस महादेश पर अंग्रेजी शासन सुव्यवस्थित हो गया तो प्रायः समग्र देशमें नवजागृति एवं अभ्युत्थानकी एक अभूतपूर्व लहर शनै शनैः व्याप्त होने लगी, जिससे जैन समाज भी अप्रभावित न रह सका। फलस्वरूप लगभग १८७५ से १९२५ ई० के पचास वर्षोंमें शिक्षा एवं धर्मप्रचारके साथ-साथ समाज सुधारके भी अनेक आन्दोलन और अभियान चले। धर्मशास्त्रोंका मुद्रण-प्रकाशन, शिक्षालयोंकी स्थापना, स्त्रीजातिका उद्धार, कुरीतियोंके निवारणके उपक्रम, कई अखिल भारतीय सुधारवादी संगठनोंका उदय तथा धार्मिक-सामाजिक पत्र-पत्रिकाओंका प्रकाशन आदि उन्हींके परिणाम थे। जातिप्रथाकी कुरीतियों एवं हानियों पर केवल तथाकथित बाबूपार्टी (आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त सुधारक वर्ग) ने ही नहीं, तथाकथित पंडितदलके भी गुरु गोपालदास बरैया जैसे महारथियोंने आवाज उठाई। बा० सूरजभान वकील, पंडित नाथूराम प्रेमी, ब्र० शीतलप्रसाद, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार प्रभृति अनेक शास्त्रज्ञ सुधारकोंने उस अभियानमें प्रभूत योग दिया। अनेक पुस्तकें व लेखादि भी लिखे गए। मुख्तार सा० की पुस्तकें जिनपूजाधिकार मीमांसा, शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण, जैनधर्म सर्वोदय तीर्थ हैं, ग्रन्थपरीक्षाएँ आदि पण्डित दरबारी लाल सत्यभक्त की विजातीय विवाह मीमांसा, बा० जयभगवानकी वीरशासनकी उदारता, पण्डित परमेष्ठीदासकी जैनधर्मकी उदारता, जैसी पुस्तकें तथा विभिन्न लेखकोंके सैकड़ों लेख प्रकाशित हुए और सुधारकोंके मंचीय जो भी मिले भाषणोंमें समाजको झकझोरा। समाजमें विचार परिवर्तन भी होने लगा। स्वतन्त्रता प्राप्तिके उपरान्त आधुनिक युगकी नई परिस्थितियोंसे उसमें और अधिक वेग आया। ऐसी स्थितिमें, जैसा कि स्व० साहू शान्तिप्रसादजी ने अनुभव किया था, विवक्षित विषयों पर जैनशास्त्रीय दृष्टिसे सांगोपांग मीमांसाकी आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति श्री पण्डित फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्रीकी इस पुस्तक 'वर्ण, जाति और धर्म मीमांसा' से बड़े अंशोंमें हुई है। पुस्तक तलस्पर्शी और मौलिक हैं, और विवेचित विषयोंके सम्बन्धमें समाजको दिशादर्शन देनेकी पूरी क्षमता रखती हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि वह स्वतन्त्र विचारणाको प्रेरणा और प्रोत्साहन देती है। पाठक पग-पग पर पुनः पुनः सोचने और अपनी पूर्व बद्ध धारणाओंमें संशोधन करनेके लिए विवश होता है। इस पुस्तकके प्रणयनके लिए पंडितजी साधुवादके पात्र तो हैं ही।

●

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा : एक समीक्षा

श्री प्रकाश हितैषी शास्त्री, दिल्ली

आत्माका कल्याण या उत्कर्ष मोक्षमार्ग पर चलनेसे प्रारम्भ होता है। उस मोक्षमार्गको प्रशस्त करनेके लिए जिनेन्द्रकी वाणी पथकी प्रज्ज्वलित प्रदीप है। यह जिनवाणी चार अनुयोगोंमें विभक्त हैं। ये चारों ही अनुयोग आत्मोत्थानके लिए अत्यन्त उपयोगी वीतराग मार्गको पुष्ट करते हैं। यद्यपि उनकी कथन-पद्धति एक दूसरेसे भिन्न मालूम पड़ती है। उनमें नय दृष्टिसे तो अन्तर दिखता है, किन्तु लक्ष्य और भाव सबका एकमात्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org